

संस्कृत भाषा में पद विभाग निरूपण

पंकज शर्मा

शोधछात्र, संस्कृत विभाग,

जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू - १८०००६

Email - pankajsharmaroyal02@gmail.com

सांक्षेपसार: इस शोध पत्र में संस्कृत भाषा में पद-रचना की प्रक्रिया को स्पष्ट कर, उसके विभिन्न पक्षों को स्पष्ट किया जायेगा। संस्कृत की पद-रचना प्रक्रिया में पदों को भिन्न-भिन्न आधारों पर कई प्रकार का माना गया है। इस विषय पर वैयाकरणों ने भी कई पक्ष स्पष्ट किये हैं। इनमें से प्रथम पक्ष केवल 'नाम' (substantives) और 'आख्यात' (verb) को ही पद मानता है। दूसरे पक्ष में चार प्रकार के पदों की स्थिति स्वीकार की जाती है, जिनका नाम है- नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात। वस्तुतः पदों के चार भागों में विभक्त करने की परम्परा अति प्राचीन है। स्वयं महाभाष्यकार ने चार प्रकार के पद-विभाग- नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात को स्वीकार किया है। यही पद-विभाग सबसे अधिक मान्य एवं प्रचलित है। संस्कृत पदों को दो भागों में विभक्त किया है, १. सुबन्त २. तिङन्त। आचार्य पाणिनि ने भाषाशास्त्रीय विवेचन में इन्हीं दो विभागों को स्वीकार किया है। दूसरे शब्दों में ये नाम (सुबन्त) और आख्यात (तिङन्त) के ही पर्यायावाची है। इसी प्रकार निपातों की गणना भी सुबन्तों में हुई है। अतः पदों के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए इस शोध पत्र में नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात को उदाहरण सहित स्पष्ट किया जायेगा।

कूटसंख्या: नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, सुबन्त, तिङन्त, पदशास्त्र, यजुर्वेद प्रातिशाख्य, ऋक्प्रातिशाख्य, क्रियापद, धातु, प्रकृत, प्रत्यय, तिङन्त, कृदन्त, तद्धित, संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, लिङ्ग, वचन, विभक्ति, क्रियाविशेषण, अव्यय, तसिल्, पदपूरणार्थक निपात

१. प्रस्तावना:

व्याकरण शास्त्र का अपर नाम पदशास्त्र है। पदशास्त्र को आधार बनाकर ही सर्वशास्त्रों का व्यवहार होता है। पद ज्ञान के बिना किसी भी शब्द का सम्यक् अर्थ जानना दुरुह होता है। इसलिए पदविभाग से पूर्व पद क्या है? इस विषय का ज्ञान होना अत्यावश्यक है।

यजुर्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार 'अर्थः पदम् अर्थात् ज्ञायते अर्थो येनेति, व्युत्पत्त्या धञ् प्रत्यये संज्ञापूर्वकत्वादत्र वृद्धयभावे पदशब्दस्य सिद्धिर्भवति'।¹

संज्ञापूर्वकत्वादत्र वृद्धयभावे पदशब्दस्य सिद्धिर्भवति।

इसके ही अष्टम अध्याय में पद का लक्षण इस प्रकार किया गया है-

'अक्षरसमुदायः पदम् अक्षरं वा'।²

अर्थात् रामः, कृष्णः इत्यादि अक्षर समुदाय के उदाहरण हैं। अ ई उ वर्ण अक्षरपद के उदाहरण हैं। ये वर्ण भी स्वतन्त्र रूप में वाचक होते हैं। जैसे अकार वासुदेव का वाचक है। ईश्वर लक्ष्मी का तथा उकार नीलकण्ठ शम्भु का वाचक है। पुराणों के अनुसार पद का लक्षण है-

वर्णैर्वर्णसमूहं हि पदमाहुर्विपश्चितः।

वर्णास्तु भुवनैर्व्याप्तास्तेषां तेषूपलम्भनात्।³

प्रातिशाख्य मत का अनुसरण करते हुए कुछ आलंकारिक भी पद का यही लक्षण स्वीकार करते हैं। साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के अनुसार -

'वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः'।⁴

पाणिनि व्याकरण में भी 'सुप्तिङन्तं पदम्' कहकर पद का लक्षण किया गया है।

वस्तुतः पदों के चार प्रकार ही विशेष प्रसिद्ध तथा सर्वत्र स्वीकृत रहे हैं।

'ऋक्प्रातिशाख्य' में -

नामाख्यातम् उपसर्गो निपातश्चत्वार्याहुः पदजातानि शब्दः⁵।

२. आख्यात पदरचना:

'भावप्रधानम् आख्यातम्'¹ कहकर 'आख्यात' को स्पष्ट किया गया है। अभिप्राय यह है कि 'वज्रति', 'पठति', 'गच्छति', इत्यादि तिङन्त या क्रियावाचक पद। 'आख्यात' इस पद का प्रयोग कहीं-कहीं केवल धातु के लिए अथवा कहीं-कहीं केवल तिङ् विभक्तियों के लिए भी हुआ है। परन्तु अधिकतर आख्यात शब्द का प्रयोग तिङन्त पद के लिए ही होता है। 'भावप्रधानम्' शब्द में 'बहुव्रीहि' समास है अतः इसका अर्थ है – 'भावः प्रधानम्' यत्र अर्थात् जहाँ भाव (क्रिया) की प्रधानता हो वह आख्यात (तिङन्त पद) है।

संस्कृत की आख्यात-पदरचना के प्रमुख घटक तत्त्व हैं –

धातु (प्रकृति) तथा + तिङ् प्रत्यय

इस वर्ग की पदरचना का सम्पूर्ण ढांचा धातु को मूल मानकर खड़ा किया गया है। इस मूल में तीन प्रकार के धात्वशों का योग हो सकता है जिन्हें मूलधातु, प्रत्ययान्त धातु तथा नाम धातु के नामों से अभिहित किया जाता है।

संरचनात्मक दृष्टि से धातु तथा तिङ् के संयोग के रूपों एवं प्रकार को समाने रखते हुए मूल धातु को अव्यवहित एवं व्यवहित में विभक्त किया जाता है।

तिङ् के योग के फलस्वरूप मूलधातु में जो परिवर्तन अथवा परिवर्तनाभाव होता है उसे पुनः दो रूपों में विभक्त किया जाता है –

- शुद्ध
- विकृत

अव्यवहित तिङन्त पदरचना में धातु तथा तिङ् प्रत्यय का बिना किसी व्यवधान के योग होना। इस प्रकार की रचना में यदि धातु बिना किसी प्रकार के विकार अथवा परिवर्तन के शुद्ध रूप में तिङ् के साथ संयुक्त हो रही हो तो उसे अव्यवहितशुद्ध कहा जायेगा, यथा –

या + ति = याति

अद् + ति = अत्ति।

क्रियापदों की रचना में धातु तथा प्रत्यय के योग से जब धातु के मूल रूप में कई प्रकार का विकार या परिवर्तन आता है तो उसे 'अव्यवहित विकृत' कहते हैं। यथा –

हु + ति = जुहोति

विद् + ति = वेत्ति।

यहाँ प्रथम उदाहरण में धातु मूल को द्वित्व हो गया है तथा दूसरे रूप में मूल धातु को गुण हो गया। इसके अतिरिक्त भी विकार हो सकते हैं – इसके मुख्य रूप हैं –

द्वित्व = पपाठ < पद्

गुण = वेत्ति < विद्

वृद्धि = यौति < यु

ह्रस्व = बिभीयात् < भी

दीर्घ = युयात् < यु

यण् = यन्ति < इण्

सम्प्रसारण = इज्यात् < यज्

स्वरादेश = पेठतु < पठ्

स्वरलोप = धनन्ति < हन्

व्यंजन परिवर्तन = दोग्धा < दुह + ता

उपजन = नक्ष्यति < नश् + स्यति

व्यवहित का अर्थ है व्यवधान। संस्कृत भाषा में अनेक क्रियापदों की रचना में धातु तथा तिङ् का साक्षात् संयोग नहीं होता है। पदरचना में यदि धातु अपने मूल रूप में ही बनी रहती है तो उसे 'व्यवहित शुद्ध' कहा जाता है, यदि उसके मूल में कोई विकार या परिवर्तन हो रहा हो तो उसे 'व्यवहित' कहा जाता है।

व्यवहित शुद्ध – पठति < पठ् + अ + ति,

व्यवहित विकृत – अव्यवहित विकृत में निर्दिष्ट विकारों के समान ही इसमें भी विकार कई प्रकार से होते हैं—

द्वत्व – सिषिधिव < सिध् + इ + व
गुण – भवति < भू + अ + ति
वृद्धि – अगादीत < अ + गद् + ई + त्
दीर्घ – दीव्यति < दिव + य + ति
सम्प्रसारण – विध्यति < व्यध् + य + ति

३. नाम पदरचना:

‘नाम’ पद रचना के सम्बन्ध में कहा गया है कि ‘सत्त्वप्रधानानि नामानि’। नाम शब्द की परिभाषा की गई है कि ‘सत्त्व’ अर्थात् द्रव्य की प्रधानता ही नाम पद है संस्कृत के किसी भी नामपद में विभक्ति प्रत्ययों के बिना प्रयोग योग्यता ही नहीं हो सकती। क्योंकि विभक्ति प्रत्ययों को व्याकरण की पारिभाषिक शब्दावली में सुप् कहा जाता है इसलिए संस्कृत के नामपदों को ‘सुबन्त’ भी कहा जाता है। जिन पदों—कृदन्त, तद्धित, समस्त एवं अव्युत्पन्न – के अन्त में इन सुप् प्रत्ययों को जोड़ा जाता है उन्हें पारिभाषिक रूप में प्रकृति कहा जाता है।

आचार्य पाणिनि ने संस्कृत के नामपदों की इस ‘प्रकृति’ को प्रातिपदिक का नाम दिया है। इन्हीं प्रातिपदिकों के अन्त में ‘सुप्’ प्रत्ययों को लगाने से ही भाषा में प्रयोग किये जा सकने योग्य विभक्त्यन्त पदों की रचना होती है।

संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण तथा संख्यावाची शब्दों की गणना ‘नाम’ पद के अन्तर्गत ही की जाती है। रूप-प्रक्रिया की दृष्टि से भी इन सब की संरचना का मूलाधार समान ही है अर्थात् संज्ञा-बोधक शब्दों के समान ही इनमें भी लिङ्ग, वचन, विभक्ति – प्रत्यय आदि का विधान होता है। इनकी संरचना, कुछ, विशेष रूपों को छोड़कर, संज्ञा शब्दों के रूप-रचना के नियमों से नियमित होती है।

४. उपसर्ग:

संस्कृत एवं संस्कृत से उत्पन्न भाषाओं में उस अव्यय या शब्द को उपसर्ग कहते हैं जो कुछ शब्दों के आरम्भ में लगकर उनके अर्थों का विस्तार करता अथवा उसमें कोई विशेषता उत्पन्न करता है। किसी धातु के मूल अर्थ में विशेषता लाने के लिए वैयाकरणों द्वारा परिगणित जिन 20 या 22 प्र, परा आदि शब्दांशों का धातु से पूर्व में प्रयोग किया जाता है, उन्हें उपसर्ग कहते हैं। संस्कृत के प्राचीन वैयाकरणों ने उपसर्ग की कई परिभाषाएँ दी हैं, जो कि प्रायः इसी व्युत्पत्ति है

उपसृजति इति उपसर्गः के ही अनुरूप है। धातु के साथ इनके प्रयोग में भी देखा जाता है कि इनका प्रयोग केवल धातु से अव्यवहित पूर्व में ही नहीं, अपितु बाद में भी हो सकता है। संस्कृत में उपसर्गों का सर्वप्रथम उल्लेख महर्षि यास्क के निरुक्त में पाया जाता है। उन्होंने जिन 20 उपसर्गों का उल्लेख किया है, वे हैं— आ, प्र, परा, अपि, प्रति, अति, सु, निर, दुर, नि, अव, उद, सम्, वि, अप, अनु, अपि, परि, अधि। आचार्य पाणिनि ने इनके अतिरिक्त निस् और दूस् इन दो उपसर्गों का भी परिगणन किया है।

संस्कृत के वैयाकरणों के अनुसार उपसर्गों की स्थिति तीन रूपों में पायी जाती है –

- **अर्थबाधकता**— कुछ उपसर्ग ऐसे होते हैं जो कि धातु से युक्त होने पर उनके मूल अर्थ का बाध करके विपरीत या सर्वथा भिन्न अर्थ का बोध कराते हैं, यथा – तिष्ठ – का अर्थ ‘स्थिरता’; किन्तु प्र + तिष्ठ का अर्थ हो जाता है ‘गति’। इसी प्रकार गम् > : आ + गम्, या > : आ + या, हरति > प्रहरति आदि है।
- **अर्थातुवर्तनः**— कुछ उपसर्ग हैं जो कि धातु के मूल अर्थ का ही अनुवर्तन करते हैं, यथा – अध्यागच्छति, पर्यागच्छति आदि में अधि – एवं परि – के कारणों अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं आता है।
- **अर्थवैशिष्ट्यः**— कुछ उपसर्ग ऐसे होते हैं जिनके कारण धातु के अर्थ में विशेषता आ जाती है, यथा – पचति, प्रपचति, पतति, निपतति आदि।

५. निपातः

यास्काचार्य ने निरुक्त में निपात की व्युत्पत्ति करके कहा है – ‘उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्तीति निपाताः⁶ संस्कृत में निपात अथवा अव्यय पदों का एक पृथक् वर्ग है। उपसर्गों से इनकी भिन्नत्व को दर्शाते हुए यह बताया गया है कि उपसर्गों का स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता। वे नाम तथा आख्यात पदों के साथ एकरूप होकर ही अपने अर्थ का बोध कराते हैं जब कि निपात पद अपना स्वतन्त्र अर्थ रखते हैं। ये सभी लिङ्गों, वचनों एवं विभक्तियों में एकरूप रहते हैं, इसलिए इन्हें अव्यय या अविकारी भी कहा जाता है। इनका प्रयोग मुख्यतः क्रिया विशेषणों के रूप में होता है।

निपातों के सुप्रचलित रूप उनके समानार्थी रूपों के साथ इस प्रकार हैं:

- –अर– अवर ‘नीचे’, पुनर् ‘फिर से’

- तर् – प्रातर् 'जल्दी', सनुतर – 'दुर', 'अलग', अन्तर 'भीतर';
–तुर – सनितुर 'दुर' 'अलग'; –वर – सवर, 'चुपके से';
–उर – मुहुर् 'अचानक' 'बार-बार'; –इ – सामि 'आधा'
परि 'चारों ओर'; –ति – अन्ति 'निकट' प्रति 'की ओर' विपरीत;
–अस्–मिथः 'आपस में' ह्यः 'कल' श्वः 'कल', अवः 'नीचे'
अधः 'निचे', प्रायः– 'सामान्य रूप से', सद्यः 'तुरन्त' इत्यादि।

इसके अतिरिक्त निर्विभक्तिक क्रियाविशेषणों की एक बहुत बड़ी संख्या ऐसी भी है जिसमें कि विशेष रूप से क्रियाविशेषणात्मक प्रत्ययों का प्रयोग होता है तथा ये भिन्न-भिन्न प्रकार के क्रियाविशेषणों के रूपों का बोध कराते हैं।

➤ तः (पंचम्यर्थक)– तः (तसिल)–

इतः, ततः, पुरतः,
दक्षिणतः, अतः, यतः,
कुतः, सर्वतः, दूरतः आदि

➤ तात्– तात् के योग से भी पंचम्यर्थक क्रियाविशेषणों की रचना की जाती है–

उदक्तात् ऊपर से,
प्राक्तात् सामने से,
अधस्तात् 'नीचे से'
पुरस्तात् सामने से'

➤ त्र – (अधिकरणार्थक) त्र से बनने वाले क्रियाविशेषणात्मक निपात सामान्यतः सप्तमी विभक्ति से निर्देशित किये जाने वाले अर्थ का बोध कराते हैं – अत्र, तत्र, कुत्र, सर्वत्र, अन्यत्र, इत्यादि।

➤ था, थम (प्रकारता-बोधक) – इन प्रत्ययों के योग से प्रकारता-बोधक क्रिया – विशेषणात्मक निपातों की रचना की जाती है।

ऋतुथा – 'नियमित रूप से'
प्रत्नथा – 'पुराने ढंग का'
विश्वथा – 'हर प्रकार से'
अन्यथा – 'दूसरे प्रकार से'
यथा – 'जिस प्रकार'

➤ दा, दानीम्, दि– हि (काल-बोधक)

दा-कदा – कब
तदा– तब
यदा– जब
सर्वदा– हमेशा

हिं- के योग से भी –

कहिं, तहिं, यहिं, एतहिं आदि

➤ ध, ह,– वैदिक संस्कृत में कभी समस्त पदों में 'ध' प्रत्यय का प्रयोग देखा जाता है – सध- 'साथ में'

अन्यथा इसका दुर्बल रूप ह का प्रयोग होता है। यथा इह- 'यहाँ'

➤ वत् (इवार्थक, तुल्यार्थक)

चन्द्रवत् – चन्द्रमा के समान
पितृवत् – पिता के तुल्य
विधिवत् – विधि पूर्वक
यथावत् – जैसा हो वैसा ही
तथावत् – 'उसी तरह' आदि।

संख्यावाचक शब्दमूलक निपात–

● शः – (प्रत्येक-वाचक)

एकशः, द्विशः, शतशः, सहस्रशः
एक एक करके हजारों की संख्या से,

➤ धा- (विभाग – वाचक) विभाग संख्या के बोधक संख्यावाची क्रिया

द्विधा –	दो भागों में
चतुर्धा–	चार भागों में
कतिधा–	कितने भागों में
बहुधा–	अनेक भागों में
विश्वधा–	हर प्रकार से
कृत्व, – कृत्, – स	(पौनः पुन्य वाचक)
सकृत् –	‘एक बार’
द्विः –	‘दो बार’
त्रिः –	‘तीन बार’
चतुः –	‘चार बार’
पंचकृत्वः –	‘पाँच बार’
सप्तकृत्वः –	‘सात बार’

इसके अतिरिक्त कुछ निपातात्मक रूप ऐसे भी होते हैं जोकि क्रियापदों से बनते हैं। इनमें कृदन्त प्रत्यय हैं – त्वा (क्त्वा), –अम् (णमुल्) तथा –तुम् (तुमुन्)।
यथा– गत्वा, आगत्य, गन्तुम्।

निपातों की श्रेणी में कुछ निपातों का विभाजन इस प्रकार से भी देखा जाता है:-

- पदपूरणार्थक निपात–
उ, हि, किल, खलु, नूनम्, सीम् आदि
- विध्यर्थक निपात–

इस प्रकार के निपातों में मङ्गलार्थ, अधिकारार्थ, नियोगार्थ निपातों को देखा जाता है जैसे –

- (i) मङ्गलार्थ – ओम्, अथ, स्वस्ति, शाश्वत इत्यादि
- (ii) अधिकारार्थ – अथ, यावत्, अनु, पुनः, यथा
अथ शब्दानुशासनम्, यावत् सम्भवस्तावद्विधिः
- (iii) नियोगार्थ– परम, वै, वाव, एव निपात हैं – यथा –
धर्मः सखा परम हो परलोकयाने, वेदो वै धर्ममूलम्।

अर्थवादार्थ निपात

- (i) कृत्सार्थ – हा, धिक्, नाम, ह – यथा– हा किमेव प्रवर्त्तसे?
- (ii) प्रशंसार्थ – पश्य, अहो यावत्, चित् निपात है।
- (iii) विषादार्थ – ई, हा, हन्त, वत् – ई ईदृशः संसारः, हा प्रिय जानकि।
- (iv) हर्षार्थ – हन्त जीवितास्मः,

अनुवादार्थ निपात

- (i) स्मरणार्थ में – आम् सैषा पंचवटी, आज्ञांत जटायुरेषः,
अये देवी दाशरथिः नूनमेषा जानकी।
- (ii) उपमार्थ में – वागर्थाविव संपृक्तौ, ज्येष्ठो भ्राता यथा पिता इति
- (iii) अभ्युपगम् – ओमिति तेनोक्तम्, आम यथा ब्रवीसि, सत्यमसारः संसारः।
- (iv) अनुश्नार्थ में – अकाषी कंट देवदत्त इति प्रश्ने – ननु करोमि भोः?
कथं नु करिष्यामि।

निषेधार्थक निपात

- (i) प्रतिषेधार्थ में – नेन्द्रं देवममंसत, तस्य तुल्योऽपि नो भवान्
- (ii) निवारणार्थ में – मा, अलम्, पर्याप्त, खलु इत्यादयः प्रयुज्यन्ते।
मा करिष्यसि, अलंकृत्वा।
- (iii) अपकारणार्थ में– हुम, धिक्, अरे।

(iv) विनिग्रहार्थ में – ह, त्वै, वै, वरम्, ननु प्रभृतयः संगृह्यन्ते।
अयमिदं ह करिष्यति।

विधिनिषेधार्थक निपात

- (i) वितर्क – किम्, अनु, आहो, उत स्वित
(ii) सम्बोधन – हे, अयि, अङ्क, भोः, प्रयुज्यन्ते। यथा – हे देवदत्त्।
(iii) अनुकम्पायां– अ अवेहि, इ इन्द्रं प्रश्य, उ उतिष्ठ, ए इत एहि।

अविधिनिषेधार्था

- (i) पदपूरणार्थ – उ, उत, हि, खलु–
(ii) पादपूरणार्थ – कम्, इम्, सीम इत तु–
(iii) वाक्यपूरणार्थ– च, नूनम्, एव, खलु।

शब्द-संक्षेप

शु.यजु. –	शुक्ल यजुर्वेद
शि.पु.वा. –	शिशुपालवध
सा.द. –	साहित्य दर्पण
निरु. –	निरुक्त

पादटिप्पणी–

- शु. यजु. ३.२
- शु. यजु. ८.४१-४२
- शि. पु. वा.
- सा. द. २.१६
- निरु. १/१/९
- निरु. प्र. अ. द्वि. पाद

संदर्भ ग्रन्थ-सूची:

१. डॉ. देवी दत्त शर्मा, संस्कृत का ऐतिहासिक एवं संरचनात्मक परिचय, हरियाण साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़
२. कपिलदेव द्विवेदी, अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहबाद, 1951
३. तारानाथ भट्टाचार्य, आशुबोध व्याकरण, भारती विद्या संस्थान, वाराणसी 1992
४. मधुसूदन मिश्र, अनुप्रयुक्त संस्कृत व्याकरण, परिमल पब्लिकेशन, 27/28, शक्ति नगर, दिल्ली- 110007
५. खण्डेवाल, अपभ्रंश साहित्य और व्याकरण, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1974